ORIGINAL RESEARCH PAPER

Social Science

Volume : 6 | Issue : 11 | November 2016 | ISSN - 2249-555X | IF : 3.919 | IC Value : 74.50

tUnsku e vudkrokn

KEYWORDS

ikQ lj Mk- ch-,y-lBh, lkp-Mh-]Mh-fyV

निदेशक त्रिलोक उच्चस्तरीय अध्ययन एवं अनुसंधान संस्थानजयपुर राजस्थान ।

"kk/kkFkh 'kkfUrdekj ikVhy

सामाजिकविज्ञान संकायराजस्थान वि वविद्यालय, जयपुर राजस्थान ।

vudkrokn dk Lo#i&

अनेकांत का अर्थ है परस्पर दो विरोधी तत्त्वों का एकत्र समन्वय। तात्पर्य यह है कि जहाँ वस्तु को सामान्य वि ोश, नित्य अनित्य, एक अनेक इनमें से किसी एक रुप में ही स्वीकार किया गया है। परन्तु अनेकांत के माध्यम से जैनद र्शन में इन सभी धर्मों सहित एक ही वस्तु को स्वीकार किया गया है।

अनेकांत यह भाब्द अनेक और अन्त इन दो पदों के मेल से बना है, अनेक का अर्थ है एक से भिन्न और अन्त का अर्थ है धर्म, इस प्रकार अनेकांत में एक से अधिक धर्मों को स्वीकार किया गया है। किन्तु यहाँ पर वस्तु के दो धर्म ही विवक्षित है। प्रायः सभी द र्शन वस्तु को अनेकांत रुप ही मानते है। ऐसा कोई द र्शन नहीं है जो घटादि पदार्थों को स्प र्श आदि गुणों से स्वीकार नहीं करते हुए जैन द र्शन की दृश्टि में भी वस्तु में विभिन्न प्रकार के धर्म रहते हैं। इस प्रकार अनेक धर्मों के रहने का नाम अनेकांत नहीं है। इसका अर्थ प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु में रहता है। ऐसा स्वीकार करना ही अनेकांत का प्रयोजन है।

इसी बात आचार्य अमृतचंद्र जी समयसार आत्मख्याति टीका में स्वश्ट करते हुए तथा सभी मतों को समाहित करते हुए कहते हैं कि&;no rr rno vrr] ;no dr rnokud] ;no lr rnoklr] ;no fuR; rnokfuR; e] bR; d oLkkoLrRofu'ikndijLijfo#) kfDr};idk ku& eudkUrkA अर्थात् जो तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है। इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व को उपजाने वाली परस्पर विरुद्ध दो भाक्तियों का प्रकाि ात होना अनेकांत है। वीरसेन आचार्य ने भी धवला पुस्तक में अनेकांत के स्वरुप को स्पश्ट करते हुए कहाँ है कि को अणयंतो णाम–जच्चंतरतं। अर्थात् जात्यन्तर भाव को अनेकांत कहते हैं। अनेक स्वभावों के एक रसात्मक मिश्रण से जो स्वाद उत्पन्न होता है, उसे अनेकांत कहते हैं।

अनेकांत की विभिन्न आचार्यों की विभिन्न प्रकार की परिभाशाओं से सिद्ध होता है कि वस्तु में जो अनेक धर्मों का पाया जाना बताया है। उसका तात्पर्य दो संख्या से है। इस प्रकार अनेकांत का वास्तविक अर्थ वस्तु में परस्पर दो विरोधी धर्मों का एक साथ पाया जाना होता है।

डॉ. हुकमचंद भारिल्ल ने लिखा है– अनेकांत भाब्द अनेक और अंत दो भाब्दों से बना है। अनेक का अर्थ है एक से अधिक दो भी हो सकते हैं और अनंत भी। दो और अनंत के बीच में अनेक अर्थ संभव है तथा अंत का अर्थ है धर्म अर्थात् गुण। प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण विद्यमान हैं, अतः जहाँ अनेक अर्थ अनंत होगा एवं अंत का अर्थ गुण लेना चाहिए। इस व्याख्या के अनुसार अर्थ होगा– अनंतगुणातमक वस्तु ही अनेकांत है। किन्तु जहाँ अनेक का अर्थ दो लिया जायेगा वहाँ अन्त का अर्थ धर्म होगा। तब यह अर्थ होगा परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दो धर्मों का एक ही वस्तु में होना अनेकांत है।

इसी बात की पुश्टि करते हुए आचार्य अमृतचंद्र प्रवचनसार में कहाँ है– आत्मा, ज्ञान, चारित्र और द र्शन स्वरुप है। ये तीनों आत्मा के ही धर्म है। स्वभावतः इनमें धर्म और धर्मी का अभेद है। फिर भी आचार्य अपने ि ाश्यों को समझाने के लिए व्यवहारनय से धर्म और धर्मी में भेद बताते हुए कहते है कि व्यवहारनय से जीव भाुद्ध स्वरुप है। यहाँ भी आचार्यश्री ने दो नयों के आश्रय से अनेकांत को समझाया है।

आचार्य समन्तभद्र ने भी अनेकांत को स्पश्ट करते हुए स्यंभू स्तोत्र में लिखा है–

lnfdfuR;oDrko;kIrf}i{kk p ;qu;ksA
lo Fkfr in ;fr i';fr L;kfnrh gr AA

अर्थात् सत् असत् , नित्य अनित्य, एक अनेक, वक्तव्य अवक्तव्य, ये परस्पर विरुद्ध आठ नयों के चार जोड़े हैं।इनको यदि सर्वथा एकान्त दृश्टि से माने तो ये एक दूसरे से विरुद्ध हो जाते हैं, किन्तु यदि स्यात् अर्थात् कथंचित् रुप से इन्हें स्वीकार करने पर ये एक दूसरे के पोशक बने रहते हैं।

समयसार परि ाि श्ट में अनेकांत के उद्दे य के कारण को स्पश्ट करते हुए कहाँ है प्र न यदि आत्मवस्तु को ज्ञानमात्रता होने पर भी स्वमेव अनेकांत प्रकासता है तब फिर अरहंत भगवान् उसके साधन के रुप में अनेकांत का उपदे ा क्यों देते है? उत्तर – अज्ञानियों के ज्ञान मात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि करने के लिए उपदे ा देते है ऐसा हम कहते है। वास्तव में अनेकांत के बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही प्रसिद्ध नहीं हो सकती। इसी को इस प्रकार समझाते है। स्वभाव से ही बहुत से भावों से भरे हुए इस वि व में सर्वभावों का स्वभाव से अद्वैत होने पर भी स्वरुप में प्रवृति और पररुप से व्यावृति के द्वारा दोनों भावों से अभ्यासित है अर्थात् समस्त वस्तु स्वरुप में दोनों भाव रह रहें है। अनेकांत का क्षेत्र विस्तृत होने के कारण अमृतचंद्र आचार्य ने अनेकांत को बलवान कहाँ है– अनेकान्तोत्र बलवान् पंचास्तिकाय में भी इस तथ्य का समर्थन असचार्य अमुतचंद्र ने पुनः किया है – l [kYo;q ikknk·udkUroknL; ;nhn kk·fi fojks/kk u fojks/k यह प्रसाद वास्तव में अनेकांतवाद का है कि ऐसा विरोध भी नहीं हैं।

अनंत धर्मात्म स्वरुप का प्रतिपादन मुख्य और गौण रुप से किया जाता है, जिसे आचार्य अमृतचंद्र ने एक भलोक द्वारा स्पश्ट किया है–

,dukd'k;Urh "yFk;Urh oLrqrRoferj.kA
vUru t;fr tuhuhfreUFkkuu=feo xksihAA%i#-& "ykd&225%

अर्थात् मथानी के नेता को विलोवने वाली ग्वालिनी की तरह जिनेन्द देव की स्याद्वाद नीति या नि चय व्यवहार रुप नीति वस्तु के स्वरुप को एक सम्यग्द र्शन से अपनी ओर खींचती है। दूसरे अर्थात् सम्यग्ज्ञान से ि थिल करती है, अंतिम अर्थात् सम्यक्चारित्र से सिद्धरुप कार्य के उत्पन्न करने से सबके ऊपर वर्तती है।

हम लोग व्यावहारिक जगत् में भी आपस में विरोधी दो धर्मों को एक ही पदार्थ में पाते हैं। जैसे–भारत दे ा स्वदे ा भी है। और विदे ा भी है। देवदत्त पिता भी है और पुत्र भी, इसमें न कोई अनि ि चत्ता है न कोई संदेह क्योंकि भारतवासियों की दृश्टि में भारत स्वदे ा है और विदे ाि यों की अपेक्षा विदे ा है। यदि कोई भारतीय हिन्दुस्तान को स्वदे ा ही समझता है तो वह हिन्दुस्तान को केवल अपने ही दृश्टिकोण से देखता है। भारतीयदलों के दृश्टिकोण से नहीं और इसलिए उसका भारतद र्शन एक पक्षीय है। पूर्ण द र्शन के लिए सभी दृश्टिकोणों को दृश्टि में रखना जरुरी है।

आज वि व में बहुत झगड़े और अ ाांति का वातावरण व्याप्त है। न केवल वि व में, दे ा में, राज्य में, नगर में, गाँव में, परिवार में, असमञ्जस्य और कलह का वातावरण बना हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति को समाज में जीना कठिन हो गया है। निश्प्रयोजन कारणों से वह दुखी होकर अ ाांति का अनुभव कर रहा है किन्तु ऐसी विशम परिस्थिति में सुख भाांति का साधन जैनद र्शन का मौलिक सिद्धाँन्त अनेकांतवाद ही प्रदान कर सकता है। दुख और अ ाांति का कारण असहिश्णुता तथा किसी की बात का समझना है। यदि व्यक्ति किसी की बात का प्रयोजन समझ ले, सहिश्णुता और धैर्यता को धारण कर ले तो सर्वत्र भाांति का साम्राज्य हो सकता है। यदि मन की भाुद्धि होने के बाद भी वचनों की भाुद्धि नहीं की गई तो समता का सार्वजनिक होना असंभव है।

इसी बात को आचार्य अमृतचंद्र ने भी लघुतत्त्वस्फोट में स्पश्ट करते हुए कहाँ है–

fxjk cyk/kkufo/kkugrh L;k}n enkel tLRoeoA
rnfMrkLr rnrRLoHkkko onfUr oLr Lo;eL[kyUr AA

अर्थात् वाणी को बल देने हेतु ही अपने स्याद्वाद मुद्रा की रचना की है। उससे अंकित होकर ही वह वस्तु को स्वयं अस्खलित रखती हुई तत् अतत् स्वभाव से युक्त कहती है।
इस प्रकार वस्तु को अनेक धर्मात्मक मानते हुए विरोधी धर्मों की सत्ता को स्वीकार करते हुए वचन में भी अनेकांतवाद को स्वीकार करके समन्वय तथा सहिश्णुता की भावना बनाए रखना चाहिए।

lUnHkZxUFk lph

1 तत्त्वार्थसार, 4/13
2 तत्त्वार्थसार, 4/14
3 तत्त्वार्थसार, 4/15
4 तत्त्वार्थसार 3/32
5 (1) तत्त्वार्थसार, 4/41
(2) तत्त्वार्थसार, 3/32 वचनिका, भाग–2, पृ. 16
6 तत्त्वार्थसार,, 3/10 वार्तिक पृ. 173
7 तत्त्वार्थसार, वचनिका, भाग –2, पृ.–15
8 सर्वार्थसिद्धि, 8/11/755, पृ.–305
9 सर्वार्थसिद्धि, 5/24/572, पृ.–226
10 सर्वार्थसिद्धि, 8/11/755 पृ.–305
11 तत्त्वार्थसार, वचनिका, भाग–2, पृ. –19–20